

उत्तर-औपनिवेशिक भारत में राज्य-निर्माण: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. शैलेन्द्र चौहान, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, एस.डी. पी.जी. कॉलेज, गाजियाबाद

धीरेन्द्र चौहान, एम. ए. (इकोनॉमिक्स), यूजीसी नेट

सारांश (Abstract)

यह शोध-पत्र स्वतंत्रता-प्राप्ति (1947) के पश्चात भारत में हुई उत्तर-औपनिवेशिक राज्य-निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसमें औपनिवेशिक विरासत, विभाजन की चुनौती, रियासतों के एकीकरण, संवैधानिक निर्माण, संघवाद, भाषायी पुनर्गठन, नियोजित आर्थिक विकास तथा धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय जैसे पहलुओं की विवेचना की गई है। अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि भारतीय राज्य-निर्माण औपनिवेशिक निरंतरता और राष्ट्रीय नवाचार के बीच एक जटिल, गतिशील समायोजन की प्रक्रिया रही है, जिसने अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद एक स्थायी लोकतांत्रिक ढांचे को जन्म दिया।

मुख्य शब्द: उत्तर-औपनिवेशिक राज्य, राज्य-निर्माण, भारतीय संविधान, संघवाद, विभाजन, राष्ट्र-निर्माण

15 अगस्त 1947 को भारत ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से मुक्त तो हो गया परंतु स्वतंत्रता की यह घटना अपने साथ राज्य-निर्माण की भीषण चुनौतियाँ लेकर आई। भारत जैसा देश जो सांस्कृतिक, भाषायी, धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से लघु विश्व के समान था, जिसने ताज़ा ताज़ा विभाजन की त्रासदी झेली थी, और जिसकी अधिकांश जनसंख्या गरीब थी, उसके सामने एक आधुनिक, संप्रभुता सम्पन्न लोकतांत्रिक राष्ट्र-राज्य का निर्माण करना किसी नए स्वाधीनता संग्राम में विजय से कम नहीं था (खिलनानी, 1997)। मेरा यह शोध-पत्र स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात भारत में हुए राज्य-निर्माण की इसी प्रक्रिया का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

उत्तर-औपनिवेशिक नवीन धारा वाले किसी राज्य का निर्माण केवल भौगोलिक सीमाओं के भीतर सत्ता स्थापित करने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह संस्थाओं, कानूनों, नागरिकता, राष्ट्रीय पहचान और शासन-प्रणाली के निर्माण की एक बहुआयामी प्रक्रिया है। भारत के संदर्भ में यह प्रक्रिया विशेष रूप से जटिल थी क्योंकि यहाँ एक साथ राष्ट्र-निर्माण, राज्य-निर्माण और संप्रभुता सम्पन्न लोकतंत्रीकरण की प्रक्रियाएँ चल रही थीं, जो सामान्यतः विश्व के अन्य उत्तर-औपनिवेशिक भागों में क्रमिक रूप से हुई थीं (गुहा, 2007)।

मेरे इस शोध-पत्र का उद्देश्य यह समझना भी है कि भारत ने किस प्रकार औपनिवेशिक विरासत, विभाजन की विभीषिका, रियासतों के एकीकरण, संविधान-निर्माण, संघीय ढांचे, भाषायी पुनर्गठन और नियोजित आर्थिक विकास के माध्यम से एक स्थायी राज्य-संरचना का निर्माण किया।

विश्व के अनेक अन्य उत्तर-औपनिवेशिक देशों की तुलना में भारत का अनुभव और उदाहरण इस दृष्टि से विशिष्ट माना जाता है कि यहाँ लोकतांत्रिक संस्थाओं ने सैन्य तख्तापलट या दीर्घकालिक सत्तावादी शासन के बिना निरंतरता बनाए रखी। यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि उस समय के अधिकांश पश्चिमी और वामपंथी राजनीतिक विश्लेषक यह मानते थे कि अपनी विशाल जनसंख्या, अत्यधिक निर्धनता और सामाजिक विविधता के कारण भारत में स्थिर लोकतंत्र संभव नहीं है। परंतु भारतीय उदाहरण ने इस धारणा को पर्याप्त चुनौती प्रस्तुत की और यह प्रमाणित किया कि उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में भी सुविचारित सिद्धांत और सक्षम राजनीतिक एवं सामाजिक नेतृत्व के सहारे राज्य की स्थायी अवस्थापनाएँ निर्मित की जा सकती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में भी मेरा यह शोध-पत्र भारतीय राज्य-निर्माण को एक ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रक्रिया के रूप में विश्लेषित करने का प्रयास करता है, जिसमें विभिन्न कालखंडों में उभरी चुनौतियों और उनके समाधान की रणनीतियों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

1. सैद्धांतिक ढांचा: उत्तर-औपनिवेशिक राज्य की अवधारणा

उत्तर-औपनिवेशिक राज्य की सैद्धांतिक समझ के लिए यह आवश्यक है कि हम इसे केवल औपनिवेशिक राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में न देखें, बल्कि एक ऐसी व्यवस्था के रूप में देखें जो औपनिवेशिक तंत्र को विरासत में पाकर भी उसे नवीन राष्ट्रीय उद्देश्यों की दिशा में रूपांतरित करने का प्रयास करती है। उपनिवेशवाद-विरोधी भावना अर्थात् भारतीय राष्ट्रवाद ने पहले ही अपने मानसिक क्षेत्र में एक भारतीय संदर्भ वाली आधुनिकता की कल्पना कर ली थी, जबकि राज्या के विकास के 'भौतिक' क्षेत्र में पश्चिमी तकनीक और प्रशासनिक ढांचे को स्वीकार किया गया (चटर्जी, 1993)। इस प्रकार उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय राज्य एक ऐसे विचार के रूप में उभरा, जिसने यूरोपीय राष्ट्र-राज्य के प्रतिमान को अपनाते हुए भी उसे भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया।

अधिकांश विचारकों ने भारतीय राज्य को एक 'अनिश्चित प्रभुत्व' की स्थिति में देखा है, जहाँ राज्य को एक साथ आधुनिकीकरण का वाहक, सामाजिक न्याय का प्रदाता और लोकतांत्रिक सहभागिता का मंच बनना था (कविराज, 1991)। यह त्रिविध भूमिका भारतीय राज्य की संरचनात्मक जटिलता का मूल कारण रही। इसके अतिरिक्त, राज्य-निर्माण के सिद्धांतकारों ने यह भी रेखांकित किया है कि उपनिवेशोत्तर राज्यों को प्रायः दो समानांतर कार्य एक साथ करने होते हैं—एक ओर संप्रभुता और क्षेत्रीय अखंडता की स्थापना, दूसरी ओर नागरिकों में साझा राष्ट्रीय पहचान का निर्माण। भारत के मामले में यह दोहरी प्रक्रिया अत्यंत सजग नेतृत्व, संवैधानिक संस्थाओं और प्रशासनिक निरंतरता के सहारे संचालित हुई।

2. औपनिवेशिक विरासत और विभाजन की चुनौती

ब्रिटिश शासन ने अपने लिए एक सुविधापूर्ण शासन की इच्छा से निर्मित एक केंद्रीकृत नौकरशाही, रेलवे, न्यायिक प्रणाली और सेना का ढांचा भारत के लिए छोड़ा, जिसे स्वतंत्र भारत ने काफी हद तक अपनाया। भारतीय प्रशासनिक सेवा (जो पूर्व में भारतीय सिविल सेवा थी) की निरंतरता इस बात का प्रमाण है कि नवोदित राज्य ने समूल परिवर्तन के स्थान पर संस्थागत निरंतरता को प्राथमिकता दी

(गुहा, 2007)। इस रणनीति ने एक ओर प्रशासनिक स्थिरता तो सुनिश्चित की परंतु दूसरी ओर औपनिवेशिक मानसिकता और लालफीताशाही को भी आगे बढ़ाया, जिसकी आलोचना बाद के विद्वानों ने की।

भारत के राज्य-निर्माण की सबसे बड़ी चुनौती विभाजन थी। भारत और पाकिस्तान के निर्माण के साथ लगभग एक करोड़ से अधिक लोगों का विस्थापन हुआ और लाखों लोग सांप्रदायिक हिंसा में मारे गए (जलाल 1985)। इस विभीषिका ने नव-स्वतंत्र भारतीय राज्य के सामने शरणार्थी पुनर्वास, सांप्रदायिकता के वातावरण की समाप्ति और सीमावर्ती क्षेत्रों में प्रशासनिक नियंत्रण जैसी तात्कालिक विकराल चुनौतियाँ खड़ी कर दीं। विभाजन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारतीय राष्ट्र-राज्य को धार्मिक राष्ट्रवाद के स्थान पर एक बहुलतावादी, धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक पहचान के आधार पर निर्मित करना होगा, और आगे चलकर यही भारतीय संविधान के मूल दर्शन का आधार बना।

3. रियासतों का एकीकरण और क्षेत्रीय अखंडता

स्वतंत्रता के समय भारत में लगभग 565 देशी रियासतें थीं, जिनके पास ब्रिटिश सर्वोच्चता के अंत के साथ स्वतंत्र होने अथवा भारत या पाकिस्तान में विलय करने का विकल्प था। गृहमंत्री वल्लभभाई पटेल और उनके सचिव वी. पी. मेनन के नेतृत्व में गृह मंत्रालय ने गहन कूटनीतिक वार्ता, आर्थिक प्रोत्साहन और आवश्यकता पड़ने पर सैन्य कार्रवाई के माध्यम से लगभग सभी रियासतों का भारतीय संघ में विलय सुनिश्चित किया (गुहा, 2007)। हैदराबाद में 'ऑपरेशन पोलो' के रूप में सैन्य अभियान और जूनागढ़ में जनमत संग्रह के माध्यम से किया गया हस्तक्षेप इस बात के उदाहरण हैं कि नवोदित भारतीय राज्य ने अपनी क्षेत्रीय अखंडता की रक्षा के लिए किस दृढ़ता से कार्य किया।

जम्मू-कश्मीर का मामला इस प्रक्रिया में सबसे जटिल सिद्ध हुआ, जिसने भारत-पाकिस्तान संबंधों को स्थायी रूप से प्रभावित किया और वर्तमान समय तक भी एक अनसुलझा भू-राजनीतिक प्रश्न बना हुआ है। रियासतों के एकीकरण की यह प्रक्रिया उत्तर-औपनिवेशिक राज्य-निर्माण के उस पहलू को उजागर करती है जिसमें बिखरी हुई संप्रभुताओं को एक केंद्रीकृत, संवैधानिक ढांचे में समाहित करना आवश्यक था और यह कार्य न केवल प्रशासनिक श्रेष्ठता का आकांक्षी था, अपितु गहन राजनीतिक कुशलता की भी माँग करता था।

4. संवैधानिक निर्माण और लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना

भारतीय संविधान सभा ने 1946 से 1949 के बीच लगभग तीन वर्षों के गहन विचार-विमर्श के पश्चात एक ऐसा संविधान निर्मित किया था जो सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार, मौलिक अधिकार, संघीय ढांचा, स्वतंत्र न्यायपालिका और संसदीय शासन-प्रणाली पर आधारित था। वस्तुतः भारतीय संविधान 'सामाजिक क्रांति के लिए एक उपकरण' के रूप में परिकल्पित किया गया था, जिसका उद्देश्य

केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान करना नहीं था, बल्कि सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को दूर करना भी था (ऑस्टिन, 1966)।

डॉ. भीमराव अंबेडकर के नेतृत्व में प्रारूप समिति ने अस्पृश्यता उन्मूलन, अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए आरक्षण, और नीति-निदेशक तत्वों के माध्यम से एक समतामूलक समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार को बिना किसी क्रमिक चरण के सीधे लागू करना भारत जैसे विशाल, निरक्षर और सामाजिक रूप से स्तरीकृत समाज के लिए एक साहसिक प्रयोग था, जिसे विश्लेषकों ने भारतीय लोकतंत्र की सबसे बड़ी उपलब्धियों में से एक बताया है (खिलनानी, 1997)। इसी के साथ चुनाव आयोग, नियंत्रक-महालेखा परीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग जैसी स्वायत्त संस्थाओं की स्थापना ने प्रशासनिक निष्पक्षता और संस्थागत जवाबदेही की नींव रखी। प्रथम आम चुनाव (1952), जिसमें लगभग 17.3 करोड़ मतदाताओं ने भाग लिया, विश्व इतिहास में लोकतांत्रिक प्रयोग का एक अद्वितीय उदाहरण बना। इस चुनाव ने यह सिद्ध किया कि गरीबी, निरक्षरता और सामाजिक विषमता के बावजूद लोकतांत्रिक संस्थाएँ भारत में जड़ें जमा सकती हैं, जो कि आधुनिकीकरण सिद्धांत की उस पश्चिमी मान्यता के विपरीत था जिसमें कहा जाता था कि लोकतंत्र के लिए पूर्व आर्थिक विकास आवश्यक है।

5. संघवाद और भाषायी पुनर्गठन

भारत में संघीय ढांचे का निर्माण भी उत्तर-औपनिवेशिक राज्य-निर्माण की एक केंद्रीय प्रक्रिया रही। प्रारंभिक संविधान में एक सशक्त केंद्र वाला संघवाद अपनाया गया, जिसमें अवशिष्ट शक्तियाँ केंद्र के पास रहीं—यह व्यवस्था विभाजन के तत्काल पश्चात राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने की आवश्यकता से प्रेरित थी। परंतु समय के साथ आने वाली भाषायी और क्षेत्रीय पहचान की मांगों को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया गया था। 1953 में आंध्र राज्य के गठन और पोट्टि श्रीरामुलु के आमरण अनशन के पश्चात राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना हुई, जिसकी सिफारिशों के आधार पर 1956 में भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया (गुहा, 2007)।

यह निर्णय आरंभ में राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा माना गया था, परंतु व्यवहार में इसने भारतीय संघवाद को अधिक स्थायी और समावेशी बनाया। भाषायी राज्यों के निर्माण ने क्षेत्रीय पहचान को राष्ट्रीय ढांचे के भीतर समायोजित करने का मार्ग प्रशस्त किया, जिससे अलगाववादी प्रवृत्तियों के बजाय संघीय सहभागिता को बल मिला। इस प्रकार भारतीय राज्य-निर्माण की विशेषता यह रही कि उसने विविधता को दबाने के बजाय संस्थागत रूप से समायोजित करने की रणनीति अपनाई, जिसे विद्वानों ने 'विविधता में एकता' के व्यावहारिक प्रबंधन के रूप में रेखांकित किया है।

6. नियोजित आर्थिक विकास और राज्य की भूमिका

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय राज्य ने आर्थिक विकास की दिशा में भी सक्रिय भूमिका निभाने का निर्णय लिया। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में 1950 में योजना आयोग की स्थापना हुई और पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से मिश्रित अर्थव्यवस्था का मॉडल अपनाया गया, जिसमें भारी उद्योगों, सिंचाई परियोजनाओं और ऊर्जा उत्पादन में राज्य की केंद्रीय भूमिका सुनिश्चित की गई (चक्रवर्ती, 1987)। भाखड़ा नांगल बांध, भिलाई इस्पात संयंत्र और अन्य सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम इस दौर के 'आधुनिक भारत के मंदिर' के रूप में प्रस्तुत किए गए।

यह आर्थिक रणनीति केवल विकासात्मक उद्देश्यों तक सीमित नहीं थी, बल्कि इसका एक महत्वपूर्ण राजनीतिक आयाम भी था— राज्य को आर्थिक न्याय और पुनर्वितरण का प्रमुख अभिकर्ता बनाकर नागरिकों में राज्य के प्रति वैधता और विश्वास उत्पन्न करना या भारत को एक कल्याणकारी राज्य के रूप में विकसित करना। इस काल में तकनीकी विशेषज्ञों और नियोजकों को असाधारण सत्ता प्राप्त हुई, जिन्होंने राष्ट्र-निर्माण को एक वैज्ञानिक, तर्कसंगत परियोजना के रूप में प्रस्तुत किया (खिलनानी, 1997)। यद्यपि इस मॉडल की आलोचना बाद में लालफीताशाही, 'लाइसेंस-परमिट राज' और धीमी आर्थिक वृद्धि दर के लिए की गई, तथापि इसने प्रारंभिक दशकों में औद्योगिक आधार और आत्मनिर्भरता की नींव रखी।

7. धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय और विविधता का प्रबंधन

उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय राज्य ने धर्मनिरपेक्षता को अपनी पहचान के केंद्रीय स्तंभ के रूप में अपनाया। परंतु यह भावना धर्मनिरपेक्षता के प्रचलित पश्चिमी अर्थ में धर्म और राज्य के पूर्ण पृथक्करण से भिन्न होकर 'समभाव' अर्थात् सभी धर्मों के प्रति समान आदर के भारतीय प्रतिमान पर आधारित थी। यह दृष्टिकोण विभाजन की सांप्रदायिक त्रासदी के प्रत्यक्ष प्रत्युत्तर के रूप में विकसित हुआ, जिसका उद्देश्य धार्मिक बहुलता को राष्ट्रीय एकता के लिए खतरे के बजाय उसकी शक्ति के रूप में स्थापित करना था। इसके समानांतर, संविधान ने आरंभ में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और बाद में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की सकारात्मक कार्रवाई की व्यवस्था करके सामाजिक न्याय को राज्य-निर्माण की प्रक्रिया में एकीकृत किया। यह उन उपनिवेशोत्तर राज्यों से भारत को अलग करता है जिन्होंने केवल राजनीतिक स्वतंत्रता पर बल दिया, जबकि भारतीय राज्य ने आरंभ से ही सामाजिक पदानुक्रम को संबोधित करने का प्रयास किया, यद्यपि इसके क्रियान्वयन में अनेक सीमाएँ और असमानताएँ बनी रहीं।

8. प्रशासनिक और सैन्य संस्थाओं की भूमिका

उत्तर-औपनिवेशिक राज्य-निर्माण में प्रशासनिक तंत्र की भूमिका को समझे बिना यह प्रक्रिया अधूरी रहेगी। स्वतंत्रता के तुरंत बाद भारतीय नेतृत्व के सामने यह प्रश्न था कि क्या औपनिवेशिक काल की सिविल सेवा को समाप्त कर एक बिल्कुल नई प्रशासनिक व्यवस्था खड़ी की जाए, अथवा विद्यमान ढांचे को सुधार कर उसका उपयोग किया जाए। सरदार पटेल ने भारतीय सिविल सेवा को

'भारत की एकता का लौह ढांचा' कहते हुए इसकी निरंतरता का समर्थन किया, और इसी परंपरा में अखिल भारतीय सेवाओं—भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा एवं भारतीय वन सेवा की स्थापना हुई (गुहा, 2007)। यह निर्णय राज्य-निर्माण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि इसने केंद्र और राज्यों के बीच प्रशासनिक समन्वय, विधि-व्यवस्था का अनुपालन और नीतियों के क्रियान्वयन में निरंतरता सुनिश्चित की।

इसी प्रकार भारतीय सेना, जो विभाजन के दौरान स्वयं विभाजित हुई थी, को भी नागरिक नियंत्रण के अधीन एक व्यावसायिक और अराजनीतिक संस्था के रूप में पुनर्गठित किया गया। यह निर्णय उन अनेक उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रों से भारत को भिन्न करता है जहाँ सेना ने राजनीतिक सत्ता पर कब्जा कर लिया। नागरिक व्यवस्था-सैन्य संबंधों में इस संतुलन को बनाए रखना—जिसमें प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल की सर्वोच्चता स्थापित रही—भारतीय लोकतांत्रिक स्थिरता के मूल कारकों में से एक माना जाता है (खिलनानी, 1997)। इस प्रकार प्रशासनिक और सैन्य संस्थाओं का पुनर्गठन भारतीय राज्य-निर्माण की एक अत्यंत सूक्ष्म परंतु निर्णायक प्रक्रिया रही, जिसने राज्य को आंतरिक स्थिरता और बाह्य सुरक्षा दोनों प्रदान की।

9. नागरिकता, राष्ट्रीय पहचान और सामूहिक अपनत्व का निर्माण

राज्य-निर्माण की प्रक्रिया केवल संस्थागत ढांचे तक सीमित नहीं रही, अपितु उसमें नागरिकों के मध्य एक साझा राष्ट्रीय पहचान और राज्य के प्रति अपनत्व की भावना विकसित करना भी सम्मिलित रहा। भारत में यह कार्य विशेष रूप से चुनौतीपूर्ण था, क्योंकि यहाँ राष्ट्रीयता किसी एक भाषा, धर्म या जातीयता पर आधारित न होकर एक 'नागरिक राष्ट्रवाद' के रूप में परिकल्पित की गई थी, जिसमें संवैधानिक मूल्य, यथा लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय तथा सांस्कृतिक मूल्य ही राष्ट्रीय एकता का आधार बने।

शिक्षा नीति, राष्ट्रीय प्रतीकों का निर्माण (राष्ट्रगान, राष्ट्रगीत, राष्ट्रध्वज, राष्ट्रीय पर्व), अखिल भारतीय रेडियो और बाद में दूरदर्शन जैसे माध्यमों के माध्यम से राज्य ने सक्रिय रूप से एक साझा नागरिक चेतना का निर्माण करने का प्रयास किया। साथ ही, संविधान द्वारा प्रदत्त नागरिकता, जो जन्म और निवास के आधार पर सभी को समान रूप से प्रदान की गई, विभाजन के तत्काल बाद एक समावेशी राजनीतिक समुदाय की स्थापना के लिए अत्यंत आवश्यक थी। इस प्रकार भारतीय राज्य-निर्माण की प्रक्रिया में नागरिकता एक ऐसे उपकरण के रूप में कार्य करती रही जिसने धार्मिक और सांप्रदायिक विभाजन की विरासत के बावजूद एक बहुलतावादी राष्ट्रीय पहचान को संस्थागत रूप प्रदान किया।

10. चुनौतियाँ और आलोचनात्मक मूल्यांकन

यह स्वीकारने में कोई संकोच नहीं है कि भारतीय राज्य-निर्माण की प्रक्रिया अत्यंत सफल होते हुए भी अनेक सीमाओं से प्रभावित रही। सर्वप्रथम, औपनिवेशिक प्रशासनिक ढांचे की निरंतरता ने राज्य और नागरिक के बीच एक दूरी बनाए रखी, जिसमें नौकरशाही

प्रायः जनता के प्रति उत्तरदायी होने के बजाय ब्रिटिश काल के समान ही नियंत्रणकारी बनी रही। दूसरे, योजनाबद्ध विकास मॉडल, यद्यपि आरंभिक औद्योगीकरण में सहायक रहा, परंतु इसने अत्यधिक केंद्रीकरण, भ्रष्टाचार और धीमी वृद्धि दर—जिसे विडंबनापूर्ण रूप से 'हिंदू विकास दर' कहा गया—को भी जन्म दिया। तीसरे, भाषायी पुनर्गठन और संघीय समायोजन के बावजूद, पूर्वोत्तर भारत, पंजाब और कश्मीर जैसे क्षेत्रों में उभरे उग्रवाद और अलगाववादी आंदोलनों ने यह दर्शाया कि राज्य-निर्माण की प्रक्रिया असमान रूप से सफल रही—जहाँ कुछ क्षेत्र राष्ट्रीय मुख्यधारा में सहजता से समाहित हो गए, वहीं अन्य क्षेत्रों में राज्य की वैधता निरंतर प्रश्नांकित होती रही (चटर्जी, 1993)। इसके अतिरिक्त, 1975-77 की आपातकाल की घटना ने यह उजागर किया कि लोकतांत्रिक संस्थाएँ, चाहे वे कितनी भी सुदृढ़ प्रतीत हों, राजनीतिक सत्ता के दुरुपयोग से पूर्णतः सुरक्षित नहीं हैं।

अंततः, यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय राज्य-निर्माण की प्रक्रिया एक सतत परंतु अपूर्ण परियोजना रही है—यह किसी एक निर्णायक क्षण में पूर्ण नहीं हुई, बल्कि प्रत्येक दशक में नई चुनौतियों, आंदोलनों और संस्थागत समायोजनों के माध्यम से पुनर्परिभाषित होती रही है। भारतीय राज्य-निर्माण के अनुभव को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए इसे अन्य उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रों के अनुभवों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखना उपयोगी है। पाकिस्तान, जो भारत के साथ ही औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुआ, राज्य-निर्माण की प्रक्रिया में भिन्न मार्ग पर अग्रसर हुआ—वहाँ प्रारंभिक दशकों में ही संविधान-निर्माण में विलंब, सैन्य हस्तक्षेप और केंद्र-प्रांत तनाव ने लोकतांत्रिक संस्थाओं को कमजोर कर दिया (जलाल, 1985)। इसके विपरीत भारत ने प्रारंभ से ही संवैधानिक सर्वोच्चता और असैनिक नियंत्रण को सुदृढ़ किया, जिसके परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक संस्थाओं को स्थायित्व प्राप्त हुआ। इसी प्रकार अफ्रीकी महाद्वीप के अनेक उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रों में, जहाँ औपनिवेशिक सीमाएँ जातीय और सांस्कृतिक वास्तविकताओं से मेल नहीं खाती थीं, राज्य-निर्माण की प्रक्रिया गृहयुद्ध, सैन्य तख्तापलट और सत्तावादी शासन में परिणत हुई। भारत ने भी अत्यंत विविध सामाजिक संरचना विरासत में पाई, परंतु संघीय समायोजन, भाषायी पुनर्गठन और समावेशी नागरिकता के माध्यम से इसने विघटनकारी प्रवृत्तियों को बड़ी सीमा तक नियंत्रित किया। यह तुलना यह स्पष्ट करती है कि उत्तर-औपनिवेशिक राज्य-निर्माण की सफलता किसी एक कारक पर निर्भर नहीं करती, बल्कि यह नेतृत्व की दूरदर्शिता, संस्थागत प्रक्रिया और ऐतिहासिक संयोगों के जटिल संयोजन का परिणाम होती है।

स्पष्ट है कि उत्तर-औपनिवेशिक भारत में राज्य-निर्माण की प्रक्रिया विश्व इतिहास के सबसे जटिल और महत्वाकांक्षी राजनीतिक प्रयोगों में से एक रही है। विभाजन की त्रासदी, रियासतों की बिखरी हुई संप्रभुता, धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक विविधता, तथा व्यापक गरीबी और निरक्षरता जैसी प्रतिकूल परिस्थितियों के बाद भी भारत ने एक संवैधानिक लोकतंत्र, संघीय ढांचा और नियोजित विकास मॉडल के माध्यम से एक स्थायी राज्य-संरचना का निर्माण किया। यह प्रक्रिया न तो पूर्णतः औपनिवेशिक ढांचे की निरंतरता थी और न ही उससे पूर्ण विच्छेद, बल्कि दोनों के बीच एक जटिल, गतिशील समायोजन थी। भारतीय अनुभव यह सिद्ध करता है कि उत्तर-औपनिवेशिक राज्य-निर्माण एक रैखिक या पूर्वनिर्धारित प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह ऐतिहासिक परिस्थितियों, नेतृत्व की राजनीतिक

कुशलता और संस्थागत नवाचार के जटिल अंतर्संबंधों से आकार लेती है। यद्यपि भारतीय राज्य आज भी असमानता, क्षेत्रीय तनाव और शासन संबंधी चुनौतियों से जूझ रहा है, तथापि इसकी संस्थागत स्थिरता और लोकतांत्रिक निरंतरता इसे विकासशील विश्व के अन्य उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों से विशिष्ट बनाती है (खिलनानी, 1997; गुहा, 2007)।

संदर्भ सूची (References)

1. ऑस्टिन, जी. (1966). द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन: कॉर्नरस्टोन ऑफ़ ए नेशन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
2. चक्रवर्ती, एस. (1987). डेवलपमेंट प्लानिंग: द इंडियन एक्सपीरियंस, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
3. चटर्जी, पी. (1993). द नेशन एंड इट्स फ़्रेगमेंट्स: कॉलोनियल एंड पोस्ट-कॉलोनियल हिस्ट्रीज़. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.
4. गुहा, आर. (2007). भारत : गांधी के बाद, पेंगविन इंडिया,
5. जलाल, ए. (1985). द सोल स्पोकसमैन: जिन्ना, द मुस्लिम लीग एंड द डिमांड फ़ॉर पाकिस्तान. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
6. कविराज, एस. (1991). ऑन स्टेट, सोसाइटी एंड डिस्कोर्स इन इंडिया. जे. मनोर (सं.), रीथिंकिंग थर्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स (पृष्ठ 72–99). लॉन्गमैन.
7. खिलनानी, एस. (1997). द आइडिया ऑफ़ इंडिया. हैमिश हैमिल्टन.